UGC NET - PHIOLOSOPHY
SAMPLE THEORY

- वैदिक और औपनिषदिक विश्व दृष्टि
- उपनिषद्
- सृष्टि के सिद्धान्त

VPM CLASSES
For IIT-JAM, JNU, GATE, NET, NIMCET and Other Entrance Exams
1-C-8, Sheela Chowdhary Road, Talwandi, Kota (Raj.) Tel No. 0744-2429714
Web Site www.vpmclasses.com E-mail-vpmclasses@yahoo.com

वैदिक और औपनिषदिक विश्व दृष्टि

प्राचीन भारत दर्शन में वेदों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारत में दर्शन धारा वेदों के ही खण्डन और मण्डन के आधार पर दो दिशाओं में बंट गई। दर्शन की आस्तिक धारा ने वेदों को अपौरुषेय मानते हुए इन्हें एक स्वयंसिद्ध प्रमाण माना व इनमें निहित दर्शन की विस्तार व विवेचना में ही अपने दर्शन की नींव रखी। वैदिक युग वह युग था जब प्रकृति और प्रकृति के क्रियाकलाप एक रहस्य थे इसीलिए वैदिक मनीषियों ने प्रकृति के विभिन्न अवयवों को देवी देवताओं के रूप में प्रस्तुत किया तथा प्रकृति और विश्व की विवेचना को अपने दर्शन में अहम स्थान दिया।

ऋत और सृष्टि

ऋगवेद के अनुसार संसार को चलाने वाली एक वैज्ञानिक व्यवस्था है। गैरोला के शब्दों में– 'किसके लिए क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य है, क्या ज्ञातव्य है, क्या अज्ञातव्य है और क्या भोग्य है, क्या परिहार्य है, इन सभी बातों का निर्देश वेदों में है। इसी को वेद का अनुशासन तथा 'ऋत का सिद्धान्त' कहते हैं और वह किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय, जाति के लिए न होकर सम्पूर्ण मानवता के लिए है। इस ऋत का संकेत यद्यपि ऋग्वेद में एक वैज्ञानिक नियम के रूप में हुआ है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, प्रातः, सन्ध्या और ऋतुओं के गमना–गमन का नियन्त्रण उसी के द्वारा होता है, किन्तु उसके द्वारा यह कर्त्तव्य बोध भी हमें होता है कि व्यक्ति का व्यक्ति के साथ तथा बहिर्जगत् के साथ क्या संबंध होना चाहिए साथ ही यह निर्देश भी मिलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव सन्मार्ग पर ही चलते रहना चाहिए।

ऋग्वेद में स्थान–स्थान पर सृष्टि कैसे हुई, कौन किससे उत्पन्न हुआ रूपों में सृष्टि की रचना पर भी प्रकाश डाला गया है। वहाँ 'असत्' को विश्व का उपादान कारण बताया गया है। (10/72/2–4)। विश्वकर्मा को बिना किसी की सहायता के सृष्टि की रचना करने वाला बताया गया है।

सृष्टि संबंधी विचार की दृष्टि से ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' और 'नासदीय सूक्त' ये दोनों सूक्त अतीव महत्वपूर्ण हैं। इसमें से 'पुरुष सूक्त' में यह बताया गया है कि परम तत्त्व रूप उस पुरुष से यह मानव समुदाय, वर्णव्यवस्था, सुर्य, चन्द्र, औषधियाँ, दोपाये और चौपाये आदि कैसे उत्पन्न हुए और कैसे समस्त जन्तुओं के लिए भोग्य सामग्रियों की उत्पत्ति हुई। किन्तु 'नासदीय–सूक्त' में तो उसका बड़ा

ही वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित वर्णन मिलता है। उसमें सृष्टि के पहले क्या था, इसको भी बताया गया है। वह कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में 'असत्' 'सत्' 'व्योम' और 'अन्तरिक्ष' कुछ भी नहीं था। वहाँ मृत्यु का भी भय नहीं था। वहाँ केवल वह 'एक' था। अन्धकार मात्र था। चारों ओर जल ही जल था आदि–आदि। आगे चलकर उसी सूक्त में यह भी बताया गया है कि उस परमतत्त्व में उसकी माया शक्ति दूध में पानी की तरह मिली हुई थी।

ऋग्वेद के इन्हीं सूक्तों में अद्वैत ईश्वर, उसकी माया शक्ति और अज्ञान (तमस्) के विचार भी बीज रूप में विद्यमान है। जो आगे चलकर वेदान्त के अद्वैतवाद और मायावाद के विशिष्ट सिद्धान्तों के रूप में विकसित हुए। नासदीय सूक्त के आधार पर जहां उपनिषदों के 'सदैव सोम्येदमग्र आसीत्' तथा 'असदेव सोम्येदमग्र आसीत्' आदि कथनों को बल मिला, वहीं आगे चलकर सांख्य, योग और वेदान्त के सत्कार्यवाद की भी प्रतिष्ठा हुई।

जीवात्मा

ऋग्वेद में आत्मा या जीव के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है – मन, आत्मा और असु। मन हमारे विचार और अनुभूति का केन्द्र है और मैक्डानल के अनुसार हृदय में निवास करता है। ऋग्वेद (5/1/164/4) में शरीर के नष्ट हो जाने की स्थिति में आत्मा के शेष रहने का भी संकेत मिलता है। यही आत्मविषयक विचार आगे विकसित होकर आत्मा को नित्य और कूटस्थ मानने के सिद्धान्त में परिणत हो जाता है। 'तैत्तिरीय' आरण्यक (1/23) में इसे प्रजापति का अंश माना गया है। आत्मविषयक धारणाएं ही आगे चलकर दर्शन ग्रन्थों में अनेक रूपों में प्रकट हुई। अध्यात्म तत्त्व का मुख्यतया प्रतिपादन करने वाली उपनिषदों के लिखे जाने से पहले आत्मा शब्द का प्रयोग उत्तरोत्तर प्राण, विश्वचेतना या समष्टि आत्मा और मानवीय चेतना या व्यष्टि आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हैं। इस प्रकार आत्मविषयक सभी मुख्य सिद्धान्तों का बीज और उसकी विकासमान परम्परा हमें ऋग्वेद और वेदों से प्राप्त होती है।

द्वैतवाद

ऋग्वेद में हमें उससे द्वैतवाद का भी संकेत मिलता है, जिसके अनुसार एक परमतत्त्व के अतिरिक्त प्रकृति तत्त्व भी होता हैं। जब वैदिक ऋषि यह कहता है कि उसी एक मात्र देवता ने द्युलोक और पृथ्वी को उत्पन्न किया है– 'द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः' तब उसका संकेत स्पष्टतः जगत् और ईश्वर

इन दो तत्त्वों की ओर ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद की इन जैसी पंक्तियों के आधार पर ही आगे चलकर वेदान्त सूत्र के द्वैतवादी व्याख्याकारों ने द्वैतवाद की प्रतिष्ठा की और उसको एक महान् दार्शनिक सिद्धान्त का रूप दिया। ऋग्वेद (10/164/20) का 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया....।, मन्त्र भी ईश्वर और आत्मा का पृथक्–पृथक् वर्णन करने के कारण द्वैतवाद का ही पोषक है।

कर्म और कर्मफल

दार्शनिक विचार में कर्म और उसके फल का बड़ा महत्व है। वेद में इसके संबंध में कुछ कहा गया है कि नहीं इस संबंध में कई मत हैं। डॉ. उमेश मिश्र के विचार में कुछ लोगों की धारणा है कि वैदिक संहिता ग्रन्थों में कर्मवाद का उल्लेख नहीं हैं। हो सकता है कि 'कर्मवाद' और 'कर्मगति' आदि शब्द वेद में न हों, परन्तु संहिताओं में कर्मवाद का उल्लेख नहीं है, यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। कहना न होगा कि डॉ. मिश्र का मूल सर्वथा सत्य है क्योंकि इस संबंध में ऋग्वेद में कई उल्लेख मिलते हैं। उदाहरण के लिए कई देवताओं के विशेषण के रूप में 'शुभस्पतिः (अच्छे कर्मों के रक्षक), 'पिपस्पतिः' और 'विश्वचर्षणिः' (समस्त शुभ और कर्मों के द्रष्टा) शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि समाज में कर्म का महत्व था। इन्हीं कर्मों के कारण जीव संसार में जन्म प्राप्त करता है। एक मन्त्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों के कारण लोग पाप कर्म में प्रवृत होते हैं।

इतना ही नहीं, उसमें 'देवयान' और 'पितृयान' का भी वर्णन मिलता है और बताया गया है कि अच्छे कर्म करने वाले 'देवयान' के द्वारा ब्रह्मलोक को तथा कर्म करने वाले लोग 'पितृयान' के द्वारा चन्द्रलोक जाते हैं।

यजुर्वेद और अथर्ववेद

जिस प्रकार ऋग्वेद में दार्शनिक विचार कण इधर–उधर बिखरे दृष्टिगत होते हैं उसी प्रकार यजुर्वेद में भी। यजुर्वेद के – 'न तस्य प्रतिभा अस्ति यस्य नाम महद् यशः, स पर्यगाच्छुक्रमकाव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषि परिभूः स्वयम्भूः' इत्यादि मन्त्रों में, निराकार, अकाय, अव्रण, आदि कहकर ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया गया है। कभी–कभी उपनिषदों के समान यजुर्वेद के मन्त्रों में ईश्वरकर्तृक विरोधाभास का वर्णन हुआ है। जैसे – 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य

सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य ब्राह्यतः' इस मन्त्र में, जिसका तात्पर्य है– 'वह हिलता है, वह नहीं हिलता। वह दूर है, वह पास में है। वह इस सबके भीतर है और इस सबके बाहर है।'

इसी प्रकार अथर्ववेद के स्कम्भ और उच्छिष्ठ सूक्तों में ईश्वर की व्यापकता के साथ–साथ उसकी सर्वाश्रयता का स्पष्ट वर्णन किया गया है। वहां स्कम्भ के बारे में बताया गया है कि वह द्युलोक पृथ्वीलोक और अन्तरिक्ष को धारण करता है। इसके साथ ही स्कम्भ और आत्मा की एकता का प्रतिपादन भी किया गया है। इसी प्रकार उच्छिष्ट सूक्त में उच्छिष्ट अर्थात् विश्व के शेष रूप परमेश्वर को संसार का कारण बताया गया है।

ब्राह्मण और आरण्यक

प्रत्येक वैदिक संहिता का अपना–अपना ब्राह्मण ग्रन्थ है। ये संहिता के व्याख्यान रूप माने जाते हैं। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड है। अनेक प्रकार के यज्ञों के विधान प्रकार और उनके नियमोपनियम तथा उनकी अभिमत फलप्राप्ति के संबंध में चर्चा के द्वारा ही ये ग्रन्थ भरे पड़े हैं। कर्मकाण्ड के इस अत्यधिक उभार, जिसका कारण निश्चय ही तत्कालीन लोकरुचि रही होगी, के कारण इन ग्रन्थों में दार्शनिक समस्याओं की चर्चा का अवकाश ही नहीं था।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों की परम्परा कुछ अंशों में लुप्त–सी हो गई है, किन्तु उसका ऐकान्तिक अभाव नहीं है। उदाहरण के लिए, कर्मसिद्धान्त, जिसकी चर्चा ऋक् संहिता में भी हुई है। और आगे चलकर दर्शन ग्रन्थों में जिसका वर्णन अदृष्ट के रूप में हुआ है, के रहस्य का विशद प्रतिपादन ब्राह्मण ग्रन्थों मे ही, उपनिषदों के बहुत बाद, गीता के द्वारा उसके अध्यात्मिक तत्त्वों के सारभूत अंश का दोहन करने के कारण हुआ होगा। गीता महाभारत का अंश है, यह स्पष्ट ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपनिषदों की रचना महाभारत से पहले अवश्य हो चुकी होगी।

उपनिषद्

उपनिषद् मूलतः आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं और वैदिक काल के अन्त में लिखे जाने तथा वेदों के चरम (उत्तम) सिद्धान्त– अध्यात्मिकता–को प्रतिपादित करने के कारण 'वेदान्त' के महनीय विरुद्व से अलंकृत हैं। उपनिषदों में जिन दार्शनिक विषयों पर मुख्य रूप से विचार किया गया है, वे ये हैं– ब्रह्म, आत्मा, तथा ब्रह्म की एकता, सृष्टिप्रक्रिया, पुनर्जन्म तथा मोक्ष।

ब्रह्म

1. वैदिक कर्मकाण्ड युग के समाप्त होते—होते बहुदेवतावाद का एकदेवतावाद में समन्वय कर दिया गया। इतना ही नहीं, प्रजापति, पुरूष और विश्वकर्मन् नाम से अभिहित होने वाली सत्ताओं में पृथक्—पृथक् रूप में इन बहुदेवताओं का समावेश हो गया।

2. बहुदेवता का समन्वय रूप (एक) देवपरक था। उसमे हजार सिर, हजार आंखें, और हजार पैरों की कल्पनाएं उस एक देव की ही अनन्य एवं अनन्त शक्ति की सूचना देने वाली हैं। उपनिषदों में इस एकता की प्रतिष्ठा ब्रह्म में करके उसके दोनों पक्ष अर्थात् व्यापक लौकिक सत्ता तथा अलौकिक शेष सत्ता की व्याख्याएं हुई।

3. 'बृहदारण्यक' (4/4/5) में इसी ब्रह्म का प्रतिपादन व्यष्टि और समष्टि की चेतना और शक्ति के रूप में किया गया। शनैः शनैः यही ब्रह्म (चेतन शक्ति) व्यष्टि और समष्टिभेद से अखण्डाकार रूप में आविष्कृत हुआ।

4. 'छन्दोग्योपनिषद्' में 'ऋग्वेद' के नासदीय सूक्त के निषेधात्मक 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' की 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् तथा 'असोम्येदेवेदमग्र आसीत्' के रूप में सत् और असत् दोनों पक्षों के आधार पर व्याख्या करते हुए उसी (एक) सत्ता से नामरूपात्मक प्रपंच के प्रकटीकरण को स्पष्ट किया गया है।

5. इस काल में ब्रह्म और आत्मा पर्यायवाची हो गए। —बृहदारण्यक' में जहां उस चेतन की व्यापकता और शक्ति की व्याख्या की गई है, वहां स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो, मनोमयः, प्राणमयश्चक्षुर्मयः पृथ्वीमयऽयोमय (बृहदा — 4/4/5) आदि के द्वारा आत्मा और ब्रह्म को एक ही कहा गया है।

6. ब्रह्मतत्व को सत्य भी कहा गया। जिस प्रकार संसार में सांसारिक कारणों की सत्यता और विकारों की असत्यता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है उसी प्रकार समस्त प्रपंच कार्य की असत्यता एवं उसमें उपादान रूप ब्रह्म या आत्मा की सत्यता को प्रमाणित रूप में स्वीकार किया गया।

7. उपनिषदों में 'सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सप्रतिष्ठाः' कहकर समस्त प्रपंच को सत् से आविर्भूत सिद्ध किया गया। इसके बाद वह सत् तत्व अर्थात् परम सूक्ष्म तत्त्व ही सत्य है और वह तू है (तत्त्वमसि)' कह कर, सामान्य दृष्टि से भिन्न—भिन्न चैतन्य की एकरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

8. 'बृहदारण्यक' (2/3/1) में, 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं, मर्त्यं चामृतं च' कह कर उस परम चेतन के दो रूप बताए गए हैं। ये ही पर ब्रह्म विचार संबंधी दार्शनिक मन्तव्यों के मूलाधार हैं। मूर्त या अपरब्रह्म की सत्ता सभी भौतिक पदार्थों में बता कर सर्वाधिक चेतनकल्प मन और प्राणों में उसकी सत्ता का दिग्दर्शन कराया गया है।

पुरूष आत्मा

1. उपनिषदों में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग कभी तो जीवात्मा के अर्थ में और कभी परम चैतन्य विश्वात्मा (ब्रह्म) के अर्थ में है। उदाहरण के लिए 'प्रश्नोपनिषद्' के चतुर्थ प्रश्न में 'तेन तर्ह्येष पुरुषों न श्रृणोति ने पश्यति न जिघ्राति' कह कर पुरुष को जीवात्मा के रूप में ही स्वीकार किया गया है। इसी पुरुष को 'कठोपनिषद्' के अ◷❑ष्ठ मात्र बताकर निर्धूम ज्योति के समान प्रभास्वर बताया गया है।

2. पुरुष की सम्प्रतिष्ठा आत्मा में बताई गई है। इसे स्प्रष्टा, द्रष्टा, श्रोता और ध्राता आदि बताने के बाद 'पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते' से उसकी स्थिति परमसूक्ष्म अनश्वर आत्मा में बताई गई है।

3. पुरुष में सोपहित व्यष्टि आत्मा या जीवात्मा और अनुपहत शुद्ध आत्मा में बताई गई है।

4. परमात्मा के अर्थ में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग मुण्डक (2/1) में उपलब्ध होता है। वहां पर अग्नि के सादृश्य से उस परम पुरुष से भौतिक सृष्टि का वर्णन करके उसमें अभेद दिखलाया गया है। जिस प्रकार सुप्रज्वलित अग्नि से चारों ओर चिनगारियाँ एक समान फैल जाती है, उसी प्रकार उस अक्षर से प्रपंच की उत्पत्ति बताकर –दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।' आदि के द्वारा उसे सृष्टि के बाहर भीतर व्यापक रहने वाला कहा गया है। इसी को आगे चलकर 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा है।

5. 'पुरुष' शब्द का यौगिक अर्थ पुर् (नगर, शरीर) में शयन करने वाला है (पुरि शेते इति पुरुष)। जीवात्मा के पक्ष में 'पुर्' का अर्थ शरीर और विश्वात्मा के पक्ष में उसका अर्थ विश्व या ब्रह्माण्ड होगा। यही कारण है कि पुरुष शब्द आसानी से इन दोनों के अर्थों का वाचक हो सका।

6. 'प्रश्नोपनिषद्' में जिस षोड्श कलायुक्त 'पुरुष' का वर्णन किया गया है, वह जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों अर्थों को समान रूप से व्यक्त करता है।

7. 'मुण्डक' (3/2/8) में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग केवल 'ब्रह्म' के अर्थ में हुआ है। (परं पुरुषमुपैति दिव्यम्)।

8. पुरुष को 'प्रश्नोपनिषद्' (5/5) में 'पदं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' और 'बृहदारण्यक' (1/5/18) में 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' कहा गया है।

9. कभी–कभी 'पुरुष' शब्द का प्रयोग सशरीर जीव के अर्थ में भी किया गया है। उदाहरणार्थ 'छान्दोग्य' के 'य एषोऽक्षिणि पुरुषों दृश्यते' में जिस 'पुरुष' को आत्मा बताया गया है, वह शरीरधारी जीव ही है।

10. पुरुष और आत्मा शब्द के माध्यम से जीव और ईश्वर के अभेद का स्पष्ट प्रतिपादन उपनिषदों में मिलता है। परन्तु उपासना के प्रकरणों में साधक और साध्य के संबंध से दोनो में भेद स्वीकार किया गया है।

11. 'मुण्डकोपनिषद्' (2/2) में जहां ध्यानाधिगम्य परमात्मा की प्राप्ति का उपाय बताया गया है, वहां ब्रह्म और आत्मा का वर्णन भिन्न भिन्न रूपों में किया गया है।

12. ब्रह्म और आत्मा के साथ–साथ 'अक्षर' शब्द का प्रयोग भी उस परोक्ष सत्ता के लिए किया गया है। सम्पूर्ण विश्व उसी विश्वविभूति की विभूति है। उसका वर्णन कभी द्वैत रूप में और कभी अद्वैत रूप में मिलता है। कभी 'हृदि ह् येष आत्मा' तो कभी 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' कह कर उसके व्यष्टि और समष्टि रूप की ओर संकेत किया गया है।

यज्ञ संस्थान की केन्द्रीभूतता

कर्म एवं यज्ञ अनुष्ठान

भारतीय धर्म एवं दर्शन दोनो में कर्मसिद्धान्त को प्रमुख स्थान प्राप्त है। कर्म – गति अद्वितीय मानी गई है, कर्म पुण्य और पाप दो अर्थो में प्रयुक्त होता है क्योंकि कर्मानुसार ही मनुष्य सुखःदुख के फलो को भोगता है। जीव का पुनर्जन्म ही इन कर्मों के फलों के भोग के लिए होता है। सभी प्राणी अपने – अपने कर्मो के अनुरूप जन्म भोग रहे है। जीवन की समस्त चेष्टाएँ और प्रकृति का चक्र कर्म – गति का ही फल है। यहाँ तक कि ऋषि – मुनि, देवी देवता सभी कर्म – गति से बंधन में पड़ते हैं। प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मो का फल भोगना पड्ता है।

अतः समस्त दुःखों से निवृत्ति के लिए, वेदों में वर्णित देवों की स्तुति करना आवश्यक है। वेद विरोधी कर्म पाप कर्म हैं। इनमें आदमी को अनेक कष्ट तथा दुःख प्राप्त होते है। अतः दुःख निवृत्ति के लिए, मनुष्य को यज्ञकर्मानुष्ठान करना चाहिए, क्योकि वेदों के यज्ञों को सर्वश्रेष्ठ माना गया हैं। यज्ञानुष्ठान

से अशुभ कर्मो के फल का नाश होता है और दुःख निवृत्ति सम्भव होती है। अतः मानव दुःखों के विनाश तथा क्षय की प्रक्रिया में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान बतलाया गया है। संक्षेप में, देवताओं की आराधना और यज्ञानुष्ठान करना वैदिक समाज में पुण्य कर्म माने जाते थे, इसलिए कष्टकारक योनियों में जन्म धारण करने से छुटकारा पाने के लिए लोग यज्ञों के लिए प्रयास करते रहते थे।

ऋण की अवधारणा

ऋणत्रय – जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को ऋणत्रय से मुक्त होना आवश्यक है। वे तीन ऋण हैं– 1. देव ऋण 2. ऋषि ऋण 3. पितृ ऋण।

1. देव ऋण – देवताओं के प्रति कर्त्तव्य, जिसमें मुक्ति, देवों को हविष प्रदान किया जाता है, देव ऋण कहते हैं।

2. ऋषि ऋण – गुरुजनों के प्रति कर्त्तव्य। गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान को प्रसारित कर इस ऋण से मुक्ति मिलती है।

3. पितृ ऋण – पितरों के प्रति कर्तव्य। सन्तानोत्पत्ति कर जाति की वृद्धि करने से ही इस ऋण से मुक्ति संभव है।

इस प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा के पूर्व धर्म जिज्ञासा (समस्त सांसारिक कर्त्तव्य) एवं ऋणत्रय से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है।

कर्त्तव्य/नैतिक बाध्यता

कर्तव्य तथा आबन्ध को समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मनुष्य स्वभावतः एवं साधारणतः अपनी रुचियों के अनुसार ही कार्य करता है। ये रुचियाँ या तो जन्मजात होती है या अर्जित। भोजन करने की रुचि जन्मजात है, पर मद्यपान की रुचि अर्जित है। मनुष्य को रुचि के अनुसार काम करने में कोई दिक्कत या झिझक नहीं होती, क्योंकि उसके अनुसार काम करने का उसे झुकाव रहता है। अतः उसके अनुसार काम करने के लिए उसे अपने आपको बाध्य नहीं करना पड़ता। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार जो भी काम करता है, वह नैतिक दृष्टि से उचित ही हो। चोरी में रुचि रखनेवाले व्यक्ति के द्वारा बिना झिझक चोरी कर ली जा सकती है, पर यह काम उचित नहीं हो सकता। इसी तरह मद्यपान के व्यसनी की मद्यपानपरक ललक उसके मद्यपान को औचित्य नहीं दे सकती। यह जरूरी नहीं है कि मनुष्य जो चाहता है उसे कर भी लेना

चाहिये; और जब रुचि के अनुरूप कार्य अकरणीय समझा जाता है, तब 'है' और 'चाहिए' का पारस्परिक विरोध स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् रुचि और कर्तव्य का अन्तर्द्वन्द्व उजागर हो जाता है। ऐसा तो प्रायः नहीं ही होता कि कर्ता के मन में कर्तव्य के प्रति वही रुझान रहे जो उसे अपनी रुचि के प्रति रहता है। इसका कारण यह है कि रुचि के अनुसार काम करने में कर्ता को अपनी लिप्सा के अनुकूल की काम करना पड़ता है, पर कर्तव्य के अनुसार काम करने में उसे प्रायः अपनी सहज लिप्सा के प्रतिकूल जाना पड़ता है, इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्तव्य का मार्ग कठिनाई से भरा रहता है। और इस मार्ग पर चलने के लिए कर्ता को अपने आपको लगाना पड़ता है, अर्थात् अपने को अभिप्रेरित करना पड़ता है। स्पष्ट ही इसके लिए दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है; क्योंकि ऐसा संकल्प करके ही परिश्रम एवं अभ्यास के द्वारा कर्तव्य के प्रति अभिरुचि पैदा कर ली जा सकती है। और तभी कर्तव्यपरक बाध्यता को रुचि के रूप में परिवर्तित किया भी जा सकता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कर्तव्य में किस तरह की बाध्यता रहती है। बाध्यता के विभिन्न प्रकार है – परिस्थितिजन्य बाध्यता, कानूनी बाध्यता, सामाजिक बाध्यता तथा नैतिक बाध्यता। इसके पहले कि हम इन बाध्यताओं के बारे में विचार करें, हमारे लिए यह जान लेना भी अत्यन्त आवश्यक है कि यदि किसी व्यक्ति के माध्यम से कोई घटना घट जाती है और उस घटना का घटित होना उस व्यक्ति के चयन और निर्णय का परिणाम नहीं होता, तो वह व्यक्ति उस घटना के लिए नैतिक दृष्टि से जिम्मेदार नहीं माना जा सकता है। यदि क ख को धकेल देता है और ख ग से टकरा जाता है और ग बहुत गहरे खड्डे में गिरकर मर जाता है, तो इसके लिए ख उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। ऐसा इसलिये कि इसके लिए ख ने कोई कर्म किया ही नहीं है। कर्म के लिए तो चयन और निर्णय निश्चित रूप से आवश्यक होते हैं। ख का ग से टकरा जाना ख के शरीर द्वारा घटित एक यान्त्रिक क्रिया है और शुद्ध यान्त्रिक क्रियाएँ नैतिकता के दायरे में नहीं आ सकतीं। और न ही इस प्रकार की क्रियाएँ बाध्य होकर की गई क्रियाएँ ही मानी जा सकतीं।

नैतिक बाध्यता

किन्तु ऐसी भी बाध्यताएँ हो सकती हैं और होती भी हैं जो न तो परिस्थितिजन्य होती हैं, न कानूनी और न ही सामाजिक। यह जरूरी नहीं है कि परिस्थितिजन्य बाध्यता या कानूनी बाध्यता या सामाजिक बाध्यता नैतिक दृष्टि से भी जायज हों। आपने लम्बे रास्ते से जाकर बहुत अधिक पेट्रोल

खर्च कर दिया और बहुत अधिक समय भी बरबाद कर दिया। आप यदि अपनी यात्रा आगे न बढ़ाते और वापस लौट जाते तो उचित ही करते, क्योंकि आपका गन्तव्य स्थान तक जाना जरूरी नहीं था। और आप लम्बे रास्ते से यात्रा करने के पहले इस बात का अनुमान कर लेने में समर्थ थे ही कि आपको लम्बे रास्ते से जाने में अधिक खर्च होगा और अधिक समय भी लगेगा। अतः आपका लम्बे रास्ते से जाना नैतिक दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता। इसी तरह अनेकानेक कानूनी एवं सामाजिक बाध्यताएँ भी नैतिक दृष्टि से अनुचित करार कर दी जा सकती है। यदि लिंग या वर्ण या जाति के आधार पर किसी व्यक्ति को मतदान का कानूनी अधिकार दिया जाये, तो स्पष्ट ही यह नैतिक दृष्टि से बिल्कुल अनुचित है। इसी तरह सामाजिक रीति रिवाज के कारण शूद्रों को पूजास्थल पर न जाने देना या स्त्रियों को परदे में रहने को बाध्य करना नैतिक दृष्टि से जायज नहीं माना जा सकता। अतः यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य को अन्ततः वही करना चाहिये जो नैतिक दृष्टि से जायज हो। यह एक प्रकार की बाध्यता ही है कि मनुष्य केवल नैतिक दृष्टि से उचित कार्य को ही करें। ऐसा करने के लिए यदि उसे कानूनी या सामाजिक बाध्यता का विरोध भी करना पड़े तो उसे ऐसा विरोध करना चाहिए। मनुष्य होने के नाते इस तरह का विरोध करना उसका नैतिक कर्तव्य या आबंध भी है।

आत्मोपकारिता में जहाँ कर्ता अन्ततः अपने निजी लाभ से ही प्रेरित होता है, वहीं नैतिकता में वह सभी के कल्याणसम्बन्धी अपनी भावना से ही प्रेरित होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि नैतिकता में आत्मकल्याण पूरी तरह तिरस्कृत नहीं हो जाता। आखिरकार सर्वकल्याण में आत्मकल्याण तो निहित ही रहता है। लेकिन तब यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यदि आत्मबलिदान से सर्वसाधारण के कल्याण की सिद्धि सम्भव होती रहे, तो आत्मबलिदान भी नैतिक दृष्टि से एक कर्तव्य ही बन जाता है। स्पष्ट ही नैतिकता आत्मकेन्द्रित न होकर सर्वकल्याणकेन्द्रित होती है। नैतिक दृष्टिकोण वही हो सकता जिसमें आत्मकल्याण के बजाय सर्वकल्याण को ही महत्व दिया गया हो। प्राचीन मनीषियों के द्वारा कामना भी यही की गई है कि "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः"।

पर तब यहाँ एक अन्तर्द्वन्द्व विद्यमान हैं। साधारणतः मनुष्य अपनी स्वार्थभावना से ही प्रेरित होकर कार्य करता है। पर नैतिकता उसे स्वार्थभावना के बजाय परार्थभावना से प्रेरित होकर ही कार्य करने का संदेश देती है। इस कारण इच्छा, रुचि, झुकाव, सहज प्रवृति, आदि से नैतिकता का टकराव होना स्वाभाविक है। आसान रास्ता तो रुचि आदि का ही है। नैतिकता का रास्ता रुचि आदि के विरूद्ध होने

के कारण आसान नहीं हो सकता। सामान्य अनुभव से भी यही ज्ञात होता है कि मनुष्य प्रायः अपनी रुचि से प्रेरित होकर ही कार्य नैतिकता के अनुरूप ही करे। यह सही है कि नैतिक आचरण में आसानी या सहजता नहीं होती। इसमें एक प्रकार की बाध्यता रहती ही हैं। लेकिन तब यही आचरण तो श्रेयस्कर होता है। पर यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि ऐसी बाध्यता उनलोगों में नहीं होती जो नैतिक कर्म करने में अभ्यस्त हो जाते हैं। उन्हें तो ऐसा कर्म करने में किसी प्रकार का मानसिक संघर्ष नहीं करना पड़ता। उनका स्वभाव ही मानो नैतिकता से ओत–प्रोत हो जाता है। इस कारण उनके लिए तो नैतिकता का बाध्यकारी स्वरूप बरकरार ही रहता, अर्थात् उसके लिए नैतिक बाध्यता कायम ही रहती है। अब यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यदि मनुष्य नैतिक आचरण करने में किसी तरह बाध्य हो जाता है, तो निश्चय ही उसकी स्वतन्त्रता खण्डित हो जाती है। स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए परमावश्यक है, इसलिए यदि नैतिक कर्तव्य या आबंध कर्ता को कर्म करने के लिए बाध्य करता है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्ता ने स्वतन्त्र संकल्प के आधार पर नैतिक कर्म किया है।

यह आपत्ति अत्यन्त पेचीली है। इसके निराकरण के लिए कुछ मौलिक बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। एक बात तो यह है कि साधारणतः हम यही समझते हैं कि सभी प्रकार की बाध्यताएँ वास्तविक कर्ताओं के द्वारा ही उत्पन्न की जाती हैं। यदि आपने मुझे धकेल दिया और मैं खड्ड में गिर पड़ा तो आपने ही मुझे गिरने के लिए बाध्य किया। यहाँ स्पष्ट ही बाध्य करनेवाला एक वास्तविक कर्ता है और वह आप हैं। अब यदि कर्तव्यपरक आंबध के बाध्यकारी होने के कारण उसे भी एक वास्तविक कर्ता ही मान लिया जाय, तब तो हम लोग नैतिक कर्म करते समय स्पष्ट ही किसी कर्ता के निर्देश पर ही कर्म करते हैं और इस तरह अपनी स्वतन्त्रता खो बैठते हैं।

किन्तु यह आपत्ति तर्कसंगत नहीं है। यह सही है कि आप मुझे धकेलकर गिरने को बाध्य करते हैं। स्पष्ट ही यहाँ 'बाध्य' शब्द का प्रयोग शाब्दिक है। किन्तु कर्तव्यों एवं आबंधों की बाध्यता के संदर्भ में 'बाध्य' का प्रयोग मात्र लाक्षणिक है। यहाँ बाधक न तो कोई वस्तु है, न ही कोई मानवकर्ता। यहाँ तो बाधक ऐसे विचार या नियम हैं, जिनके अनुसार किये गये कर्म परिस्थितिनिरपेक्ष नहीं होते, वरन् परिस्थितिसापेक्ष होते हैं, और चूँकि इनके क्रियान्वयन में नैतिक दृष्टि ही अपनायी जाती है इसलिए ये निरंकुश या स्वच्छन्द आचरण का रूप नहीं ग्रहण कर सकते और इस तरह वे एक विशेष ढ़ंग से ही

बाध्यकारी रूप ग्रहण करते हैं। इनकी यह बाध्यता स्वतन्त्रताविरोधी नहीं होती, क्योंकि यह बाध्यता बौद्धिक होती है। मनुष्य जैसे बौद्धिक प्राणी के लिए नैतिक नियमों की अवहेलना करना या इनके प्रतिकूल कर्म करना मानव स्वरूप के विरूद्ध जाना होता है और वैसा करके ही मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। नैतिक आचरण संकल्प की स्वतन्त्रता का अवरोधक नहीं होता, वरन् वह उसका परिणाम ही होता है। स्पष्ट ही ऐसे आचरण के संदर्भ में मनुष्य की बुद्धि एवं संकल्प की स्वतन्त्रता परस्पर विरोधिनी नहीं होतीं, वरन् एक दूसरे की सहयोगिनी ही होती है। कर्तव्यों एवं आबंधों में यदि कोई बाध्यता है, तो वह निश्चित रूप से बौद्धिक बाध्यता है और ऐसी बाध्यता किसी बौद्धिक प्राणी के लिए मानो वरदान ही है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि चूँकि मनुष्य के कार्यों के स्त्रोत उसकी इच्छाएँ, प्रवृतियाँ, अभिप्रेरक आदि ही हैं और चूँकि इनके अभाव में मनुष्य कोई कर्म करने के लिए प्रयत्नशील नहीं होता, इसलिए वह इन आन्तरिक कारणों से तो भी अवश्य ही बाध्य होता है। ऐसा मानना एक दृष्टि से तो अवश्य ही सही है, पर साथ ही यह मानना भी उतना ही सही है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं, अभिप्रेरणाओं, आदि के दबाव में न पड़कर केवल अपने नैतिक कर्तव्यबोध से प्रेरित होकर ही कार्य करे। मनुष्य की यही बौद्धिक क्षमता उसे पशु से भिन्न बना देती है। कार्यों के ये स्त्रोत चाहे वे इच्छाएँ हों या अभिप्रेरणाएँ, कार्य करने के लिए अवसर तो अवश्य प्रदान करती है, पर यह जरूरी नहीं है कि उनके अनुसार कार्य किये जाएँ। कार्यों के कर्तव्यबोध के अनुरूप परिमार्जित या परिवर्तित करना और तदनुकूल ही उन्हें क्रियान्वित करना उचित होता है। और ऐसा करना बुद्धि के कारण सम्भव हो ही सकता है। और जहाँ बौद्धिक विवेचन के आधार पर कार्यसम्पादन होता है, वहाँ बाध्यता के आक्षेप का प्रासंगिक एवं प्रभावी होने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यही कारण है कि कर्तव्यबोध अभिप्रेरक होकर भी बाध्यकारी नहीं होता।

यह बिल्कुल सही है कि कर्तव्य तथा आबंध मनुष्य की इच्छाओं, अभिप्रेरको और प्रवृतियों के अनुकूल नहीं भी हो सकते हैं और प्रायः ही वे उनके अनुकूल नहीं होते। इस कारण वे अर्थात कर्तव्य तथा आबंध एक दृष्टि से बाध्यकारी तो हो ही जाते है पर वे बाध्यकारी किसी के आदेश होने के कारण या किसी दैवी शक्ति या धर्मग्रन्थ के द्वारा निर्देशित होने के कारण नहीं होते। वे तो मनुष्य की सहज प्रवृतियों के प्रतिकूल होने के कारण बाध्यकारी प्रतीत होने लगते है। वे तो मनुष्य की आवश्यकताओं

के अनुरूप तथा सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक सामंजस्य को सुनिश्चित करने हेतु तर्कसम्मत ढंग से निर्धारित हुए होते हैं। इसलिए वे तो अनुपालनीय ही होते है। वे बाध्यकारी इसलिए प्रतीत होते हैं कि उनके कारण कर्ता अपने लिए नहीं वरन् दूसरों के लिए ही अभिप्रेरित होता है। नैतिक क्रियान्वयन प्रायः जन्मजात इच्छाओं के अनुकूल न होकर उनके प्रतिकूल ही होता है। जब कर्ता अपने प्रयत्न और अभ्यास से नैतिकता को अपनी आदत बना लेता है, तभी उसके लिए नैतिक क्रियान्वयन स्वाभाविक हो सकता है। और तभी उसके लिए कर्तव्यों और आबंधों की बाध्यता समाप्त हो सकती है। इतिहास में ऐसे अनेकानेक महात्माओं का उल्लेख किया गया है जिसमें नैतिकता को उनके जीवन के स्वभाव के रूप में ही वर्णित किया गया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कर्तव्यों एवं आबंधो का बाध्यकारी प्रतीत होना उनके सन्दर्भ पर भी निर्भर करता है। यदि वे कर्तव्यपरायणता के संदर्भ में विचारित होते है, तब वे बाध्यकारी प्रतीत होते है, इस विचार को स्पष्ट करने के लिए हमें पहले कर्तव्यों एवं आबंधों से सम्बद्ध नैतिक नियमों के बारे में विचारकों द्वारा प्रस्तावित दो परस्पर भिन्न मतों को स्पष्ट कर लेना चाहिये। कुछ नीतिशास्त्र के विचारक नैतिक नियमों को प्रयोजनसापेक्ष मानते हैं, पर कुछ प्रयोजननिरपेक्ष। पहले वर्ग को हम प्रयोजनवादी तथा दूसरे को कर्तव्यवादी कह सकते है। प्रयोजनवादी कहते है कि नैतिक आचरण किसी न किसी अभीष्ट की प्राप्ति के लिए ही किया जाता है – जैसे, सुख, स्वर्ग, ईश्वरसाक्षात्कार, मोक्ष, आदि। पर कर्तव्यवादी कहते हैं कि नैतिक आचरण किसी प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् शुद्ध प्रयोजनहीन कर्तव्यपालन के लिए ही किया जाता है। काण्ट जैसे अनके महान् नीतिशास्त्रियों ने इसी कर्तव्यपालन का झण्डा फहराया है और उसे ही महत्व प्रदान किया है। गीता ने भी इसी फलनिरपेक्षवाद का डंका पीटा है। नैतिक नियम के लिए उसकी प्रयोजनपरक भूमिका अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण होती है। नैतिक नियम हमारे लिए आकाश से टपक नहीं पड़ते। यदि आकाश से नियमों को टपकना सम्भव हो भी जाये, तो भी वे हमारे ब्यापक हित की सिद्धि में सहायक हुए बिना हमारे नैतिक नियम बन ही नहीं सकते। नैतिक नियम, मानवबुद्धि द्वारा मनुष्य के चरित्रनिर्माण तथा सामाजिक सामंजस्य तथा सामाजिक उन्नयन के लिए निर्धारित होते हैं। और इस तरह निर्धारित हो जाने पर वे नैतिक कर्ता के लिए आवश्यक तौर पर अनुपालनीय हो जाते हैं। उनके अनुपालन में कोई छूट नहीं दी जा सकती, इसलिए वे इस तरह से बाध्यकारी हो ही जाते है। लेकिन,

उनके अनुपालन से तो नैतिक अभीष्ट की ही प्राप्ति होती है। और यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि साधनपरक अनिवार्यता बाध्यकारी नहीं मानी जा सकती। अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि कर्तव्यनिरूपण के सम्बन्ध में प्रयोजनवादी ही सही हैं, यद्यपि कर्तव्यपालन के सम्बन्ध कें कर्तव्यवादी ही सही जान पड़ते है। इस प्रसंग में यहाँ यह कहना भी उचित ही होगा कि जहाँ एक ओर कर्तव्यों तथा नैतिक नियमों का प्रतिपादन किसी व्यक्ति के बौद्धिक विवेचन के द्वारा प्रत्यक्ष तौर पर ही सम्भव है, वहीं दूसरी ओर इनका प्रतिपादन अप्रत्यक्ष ढ़ग से समाज के द्वारा भी हो सकता है। समाज में भी नैतिक नियम विकसित होते रहे हैं और आवश्यकतानुसार उनकी समीक्षा भी की जाती रही है। और फिर समीक्षा के उपरान्त अनेक नियम परित्यक्त भी होते रहे हैं और नये–नये नियमों का निरूपण भी होता ही रहा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भौतिक वातावरण तथा सामाजिक परिवेश दोनों का परिवर्तन होता ही रहता है। अतः यह सर्वथा उपयुक्त है कि ऐसे परिवर्तनों के अनुकूल नैतिक नियमों का उचित एवं आवश्यक परिवर्तन भी होता ही रहे। नैतिक नियम समाजसापेक्ष होने के कारण अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत नहीं हो सकते।

सृष्टि के सिद्धान्त

ऋग्वेद में सृष्टि की रचना पर भी प्रकाश डाला गया है। सृष्टि, संबंधी विचार की दृष्टि से ऋग्वेद के 'पुरूष सूक्त' और 'नासदीय सूक्त' अतीव महत्वपूर्ण हैं।

सृष्टि की कल्पना के विषय में ऋग्वेद का पुरूष – सूक्त महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार,, जगत् की सृष्टि प्राकृतिक उत्पत्ति है और देवी – देवता सृष्टि में केवल सहायक उपकरण माने गए है। प्रजापति एक विराट पुरूष है उसका शरीर जगत् का उपादान आधार है। जितने भी जगत् के विभिन्न भाग है, वे उस विराट पुरुष के ही अंग है। यह त्रैकालिक पुरुष है जिसे ब्राह्मण – ग्रन्थो में प्रजापति, उपनिषदों में आत्मा, आदि कहा गया है। इस विराट् पुरूष का मस्तक आकाश, नाभि वायु, चरण भूलोक मन चन्द्रमा, चक्षु सूर्य और निःश्वास को पवन के रूप में कल्पित किया गया। अथर्ववेद में 'काल' को समस्त जगत् का स्त्रष्टा माना गया है। अन्यत्र रोहित (उगते हुए सूर्य) को सृष्टि का प्रथम तत्त्व स्वीकार किया गया है। उस एक तैजस तत्त्व (परमात्मा) में काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ जो सृष्टि का प्रथम बीज था।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के अनुसार, सृष्टि के प्रारम्भ में अन्धकार ही अन्धकार था। कई प्रकार का अन्धकार था – कुछ गहन–सा, कुछ गम्भीर समुद्र–सा। सब कुछ शून्य से आवृत था। वहाँ न मृत्यु थी, न अमरता:, न दिन, न रात और न किसी प्रकार का प्रकाश। उस समय न सत् था न असत्:, न अन्तरिक्ष था न व्योम। इस प्रकार चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था।

इस जगत के सर्जक परमदेव परमात्मा हैं जिसे इन्द्र, सूर्य, हिरण्यगर्भ या प्रजापति के रूप में कल्पित किया गया है। सृष्टि से पहले कुछ नहीं था। केवल शून्य, चारों ओर निस्तब्धता थी। उस समय परमतत्त्व परमात्मा ने अपनी शक्ति से एक दिव्य रूप पैदा किया जो अग्नि के गोले के समान दैदीप्यमान था। वही सूर्य या हिरण्यगर्भ कहलाया। 'हिरण्यगर्भ (सुनहरे गर्भवाला)' पहले था, वह भूत का अकेला स्वामी मौजूद था।' उसके पैदा होते ही सारा अन्धकार नष्ट हो गया। निस्तब्धता समाप्त हो गई और प्रकृति में एक ऐसा विचित्र कम्पन्न हुआ जिससे एक दिव्यलोक की उत्पति हुई। यह द्यावापृथ्वी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। साथ ही आधारभूत जलतत्व की सृष्टि हुई। इसी हिरण्यगर्भ से अनेक देवी देवता उत्पन्न हुए। इस प्रकार सृष्टि अर्थात जगत की उत्पत्ति एवं संरचना प्रारम्भ हुई।

वैसे वेदों में जगत् की रचना के विषय में अनेक कल्पनाएँ हैं, पर सामान्यः प्रजापति को ही जगत् का स्त्रष्टा कहा गया है। वही प्रजापति का विविध रूपों में अर्थात् इन्द्र, वायु, सूर्य आदि के रूप में स्तुति किया जाता है। हिरण्यगर्भ सूर्य के रूप में प्रजापति माना जाता है। वह एक होते हुए भी अनेक नामों वाला है। इसलिए प्रारम्भ में बहुवेदवाद की स्थापना हुई अर्थात् अनेक वेदों की सत्ता में आस्था का आरम्भ हुआ।

कालान्तर में, ऋषियों एवं मनीषियों की यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि जब इन्द्र, वरूण, वायु सूर्य, आदि अनके देवों को अस्तित्व है तब हम किस देवता की स्तुति करें ? किस देवता को हवि अर्पित की जाए ? वह अन्य कोई नहीं है, बल्कि एक है, सत् है, जिसे स्त्रष्टा या प्रजापति कहते हैं। यह प्रजापति विश्व का मूलतत्त्व है, प्राणियों का प्राणदाता है, वह देवों में एकमात्र देव है, सर्वेसर्वा, वह अजर–मजर है, समस्त विश्व उसी की उपासना करता है, वह सर्वशक्तिमान है और वही देवाधिदेव है।

वही अकेला, अजन्मा पृथ्वी का निर्माण करता है। उसने सर्वप्रथम जन्म को धारण किया। वह परमात्मा है, पर आत्मा के रूप में हमारे निकट है। अर्थात् जीवात्मा के रूप में मनुष्यों के पास है।

सृष्टितत्त्व के प्रतिपादन की दृष्टि से ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार जगत् की सृष्टि एक प्राकृतिक उत्पति है और देवगण इस उत्पत्ति के मात्र उपकरण हैं। पुरुष का शरीर उसका उपादान कारण है। उस विराट् पुरुष के विभिन्न अवयव जगत् के विभिन्न भाग हैं। उस विराट पुरुष का सिर आकाश है। नाभि वायु, चरण भूलोक, मन चंद्रमा, चक्षु सुर्य और निःश्वास को पवन के रूप में परिकल्पित किया गया है। भूत, भविष्य एवं वर्तमान को पुरुष का ही प्रत्यय कहा गया है (पुरुषसूक्त)। भारतीय हिन्दू दार्शनिकों की दृष्टि में वह श्रौत ज्ञान अपौरुषेय है, मानवीय चिन्तन–प्रणाली से युक्त है। सिद्ध सत्य की यह प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। यह पूर्णतः आत्मा निःसृत होने के कारण असर्जित एवं असर्जनीय है। यह कथन अधिवैयक्तिक सार्वदेशिक एवं सार्वभौम है। ये प्रत्यक्ष हैं, सीधे हैं, विवादास्पद या असम्बद्ध नहीं हैं यह एक आध्यात्मिक निश्चिन्तता है। यह अतुभूति बिल्कुल निरपेक्ष हैं; क्योंकि यहाँ ज्ञाता और ज्ञात दोनों एक हैं, दोनों में अभेद सम्बन्ध है। यही श्रौत ज्ञान ईश्वर एवं मानव का पूर्ण मिलन है।

उपनिषदों में भी सृष्टि–संकाय के सन्दर्भ में पर्याप्त विचार किया गया है। उपनिषदें इस महासत्य की घोषणा करती हैं कि तत्त्वमसि अर्थात वह तुम्हीं हो। गौतम बुद्ध ने कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने–आपमें बुद्ध या बोधिसत्व होने की क्षमता रखता है। मदालसा ने बच्चे को लोरी सुनाया था–शुद्धोअसि, बुद्धोअसि, निरज्जनाअसि। कहने का तात्पर्य यह है कि मानवात्मा में ऐसी कोई वस्तु है, जो उस परम से सम्बन्धित है। यही आत्मा की मिलन–भूमि है। यह सम्पूर्ण सौन्दर्य, सम्पूर्ण शिवत्व तथा सार्वदेशिक महत्व के सम्पूर्ण विचारों का स्त्रोत एवं आधार है। आत्मा उस अतीन्द्रिय सत्य को इसलिए ग्रहण कर सकती है कि जब वह सत्य किसी गम्भीरतम केन्द्र पर स्थिर होता है तो उस परम सत्य के साथ मिलकर एक हो जाती है। क्योंकि वह जिसे जानती है, उससे अभिन्न हो जाती है। यही कारण है कि गौड़पाद ने स्पष्टतः सृष्टि–संकाय से अलग हटकर स्पष्ट शब्दों में कहा कि सृष्टि असत् से होती है या सत् से इस सन्दर्भ में उपनिषद्वचन निर्णायक नहीं है, उपनिषदों में दोनों पक्ष के सिद्वान्त उपलब्ध हैं। अतः जो पक्ष जहाँ युक्तिसंगत प्रतीत हो वही उपनिषद का सृष्टि संकाय समझना चाहिए।

आत्मा एवं अनात्मा

वेदों में आत्मा एवं जीव दोनों की सत्ता को माना गया है। जब वह शरीरमय होता है, तब वह 'जीव' रूप धारण कर लेता है, परन्तु मूलतः वह आत्मा ही है। वेदों के अनुसार आत्मा के दो रूप होते हैं।

एक माया–विशिष्ट जीव और दूसरा मायारहित आत्मा। आत्मा और माया के रूप में ऋग्वेद द्वैततत्त्व का प्रदर्शन करता है। ऋग्वेद में ही द्वैतवाद का बीज मिलता है। ऋग्वेद में मन, आत्मा और असु जीव के वाचक शब्द हैं, लेकिन वहाँ आत्मा को सामान्यतः प्राणवायु या शरीर के लिए प्रयुक्त किया गया है।

वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि आत्मा (=मन) शरीर से अलग भी अपना अस्तित्व रखता है। परमात्मा या प्रजापति जगत् आदि कर्ता है, उसे ही जगत् की आत्मा कहा गया है उसे सूर्य भी कहते हैं। यही विश्व–व्यापी आत्मा जब माया से युक्त होता है तब वह नाना रूपों का धारण करता है। यही आत्मा जब कर्मानुसार शरीर धारण करता है, तब उसे जीव कहा जाता है। ध्यान रहे यह माया भौतिक जगत् की सत्ता से युक्त है अर्थात् यह भौतिक जगत् मिथ्या नहीं है। परमात्मा मायामयी शक्तियों से युक्त, इस विश्व की सृष्टि करता है।

जीव और आत्मा

उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म ही परम तत्व है। बाह्य दृष्टि से ब्रह्म को परम तत्व माना गया है तथा आंतरिक दृष्टि से आत्मा ही परम तत्व है। बाह्य और आंतरिक में तत्वतः भेद नहीं, अभेद है। परम तत्व एक अद्वैत रूप है, जिसे बाह्य दृष्टि से ब्रह्म और आंतरिक दृष्टि से आत्मा कहते हैं। ये एक ही परम तत्व के दो नाम है आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप, सत्, चित्, आनंद है। जन्म–मरण, रोग–विनाश आदि सभी शरीर में अंधकार और प्रकाश की तरह निवास करते हैं। जीवात्मा कर्म के फलों एवं दुःख–सुख को भोगता है। लेकिन आत्मा कर्म एवं पाप–पुण्य से परे है।

उपनिषद् में जीव और आत्मा दोनों को नित्य और अजन्मा माना गया है। वह ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है। उसका पुनर्जन्म होता है।

उपनिषद् में जीवात्मा की चार अवस्थाओं का संकेत है। वे हैं 1. जाग्रत्–अवस्था 2. स्वप्न की अवस्था 3. सुषुप्ति की अवस्था 4. तुरीयावस्था।

1. जाग्रत् अवस्था : यह चेतना की पहली अवस्था है। इस अवस्था में ज्ञान या चेतना का विषय भौतिक जगत या बाह्य संसार है। यहाँ बाह्य–संसार का ज्ञान होता है। इस अवस्था में चेतना को 'वैश्वानर' कहते हैं।

2. स्वप्न की अवस्था : यह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में ज्ञान का विषय आंतरिक होता है। इस अवस्था में चेतना को 'तेजस' कहते हैं।

3. सुषुप्तावस्था : सुषुप्ति की अवस्था में जीवात्मा 'प्रज्ञा' कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा बाह्य और आंतरिक किसी विषय का उपभोग नहीं करता वरं केवल आनंद का उपभोग करता है। इस अवस्था की चेतना "प्रज्ञा" कहलाती है।

4. तुरीयावस्था : यह आत्म–चेतना की अवस्था है। इस अवस्था में जीवात्मा को आत्मा काह जाता है। यह शुद्ध चैतन्य है। इसी आत्मा को परम–तत्व माना गया है। तुरीयावस्था की आत्मा ही ब्रह्म है।

उपनिषद् में जीव के पाँच कोषों का वर्णन है :

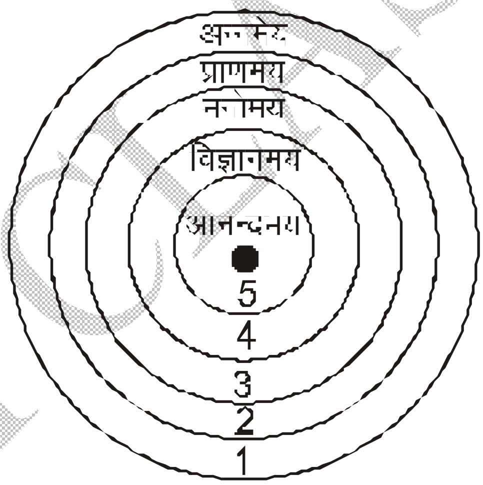

1. अन्नमय कोष – स्थूल शरीर अन्न पर आश्रित है। इसे अन्नमय कोष कहा गया है। अन्न ही परम सत्य हैं।

2. प्राणमय कोष – अन्नमय कोष के अंदर प्राणमय कोष है। यह शरीर में गति देने वाली प्राण–शक्तियों से बना हुआ है। प्राण ही परम–सत्य है।

3. मनोमय कोष – प्राणमय कोष के अंदर मनोमय कोष है। यह मन पर निर्भर है। मन ही परम सत्य है।

4. विज्ञानमय कोष – मनोमय कोष के अंतर आनन्दमय कोष है यहाँ आनन्द (आत्मा) ही परम सत्य है। यह आत्मा का सार है। यही ब्रह्म है। यह पारमार्थिक और पूर्ण है। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है, यह शुद्ध चैतन्य है, इसमें आनन्द का निवास है। इसलिए आत्मा को 'सचिदानन्द' कहा गया है (सत् + चित् + आनन्द)।

मोक्ष

पुनर्जन्म के अनन्तर उपनिषदों में जिस अन्य दार्शनिक तत्त्व की चर्चा मिलती है, वह मोक्ष है। यह बहुत ही महत्वपूर्ण तत्त्व है। पितृयान से गमन करने वालों को जन्म जन्मान्तर अर्थात् अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं किन्तु देवयान से जाने वाले अर्थात् ज्ञानियों को ऐसा कुछ नहीं भोगना पड़ता। स्पष्ट है कि पितृयान के पथिक को जन्म लेना पड़ता है और इस पुनर्जन्म के मूल कारण जीव के अपने कर्म हैं। किन्तु ये कर्म–बीज जब ब्रह्मज्ञान की अग्नि में जल जाते हैं तो उनमें अ[illegible]रण–फलोत्पादन की शक्ति नहीं रह जाती है। यही कारण है कि ज्ञानी अर्थात् देवयान के पथिक कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली लोकान्तर–प्राप्ति नहीं होती।

यह कर्म जिस अग्नि मे जलकर भस्म होता है, वह ब्रह्मज्ञान है। 'मुण्डकोपनिषद्' (1/2/7) में इसी का वर्ण–'तद् विज्ञागेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्द रूपममृतं यद् विभाति' अर्थात् उस आनन्दमय अमृत तत्व को ज्ञानी जन विज्ञान के द्वारा ही देखते हैं– के रूप में मिलता है। यह वह तत्त्व है जिसका साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की गांठ खुल जाती है और सारे के सारे सन्देह समाप्त हो जाते हैं। और इनके साथ ही उसके सारे कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। स्पष्ट है कि उपनिषदों की दृष्टि में कर्म से मुक्ति का एक मात्र उपाय ज्ञान है। इस ज्ञान के होने साथ ही वह मुक्त हो जाता हैं। 'वृहदारण्यक' (4/4/7) में जीव की इस मुक्तावस्था का अंकन इस रूप में दृष्टिगत होता है – 'मनुष्य जब सब कामों में विनिर्मुक्त हो जाता है तो वह अमर हो जाता है, ब्रह्म को पा लेता है। उस समय जिस प्रकार सांप की केंचुली बांबी पर योंही पड़ी रहती है उसी प्रकार कामनाओं से रहित उस आत्मा का शरीर भी निष्काम पड़ा रहता है। वह विदेह अमर है, केवल प्राण रूप है, ब्रह्म है और तेज रूप है आदि–आदि। इस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति सांसारिक बन्धनों में जकड़ा होने पर भी वास्तव में मुक्त होता है।

मोक्ष का स्वरूप

उपनिषदों की दृष्टि में असीम संसार से असीम ब्रह्म को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है। जन्म– मरण की श्रृंखला केवल अज्ञानियों के लिए ही अनन्त है। जीव में ज्ञान का उदय होते ही मोक्ष की दशा उपस्थित हो जाती है। यह मोक्ष कहीं बाहर से प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है अपितु आत्मा की अपनी वास्तविक दशा ही मोक्ष है। इसका मोक्ष आर्थात् छुटकारा नाम जन्म–मरण और उसके मूलकारण रूप कर्मबन्धन एवं अविद्या से मुक्ति का संकेत करता है। 'मोक्ष–प्राप्ति' आदि शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ में समझना चाहिए। यथार्थ में वह सच्चिदानन्दमय अपना ही स्वरूप है जो अविद्या और कर्मबन्धनों से आच्छन्न रहता था। इसीलिए उपनिषदों में आत्मसाक्षात्कार को मोक्ष कहा गया है। इस स्थिति को प्राप्त हुआ जीव – 'गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति, अर्थात् अन्तर की रहस्यपूर्ण ग्रन्थियों से मुक्त होकर अमर हो जाता है। इसके साथ ही वह उपनिषदों के 'स यो ह वै तत्परमंब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, आदि वाक्यों के अनुसार वह अपने ही स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, क्योंकि ब्रह्म या आत्मा के उसी स्वरूप का वर्णन ही उपनिषदों में सर्वत्र किया गया है। और, यही कारण है कि भारतीय दर्शनों में कहीं–कहीं मोक्ष की यह परिभाषा दृष्टिगत होती है – 'आत्मनः स्वरूपेणावस्थानं मोक्षः' अर्थात् आत्मा को अपने रूप में अवस्थित होना ही मोक्ष है।

मोक्ष और संसार का कारण

उपनिषदों की मान्यता है कि संसार अर्थात् जन्म–मरण रूप चक्र में फसने का कारण अविद्या है और उससे मुक्ति या मोक्ष का कारण है ज्ञान। कठोपनिषद् के अनुसार सांसारिक सुखों की इच्छा या अविद्या से जब व्यक्ति की आंखें ढक जाती हैं और वह अमृत्व की महत्वकांक्षा से प्रयाण करता है तब वह उसे 'प्रज्ञान' के द्वारा प्राप्त करता है। उसे जानने के अनन्तर यह भूमा का अधिकारी हो जाता है। यह भूमा वह रस है, जिससे आगे सभी सांसारिक रस फीके हैं। इस प्रकार मोक्ष का साधन एक मात्र ज्ञान ही उपनिषदों में प्राप्त होता है – 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'।

कर्म एवं यज्ञ अनुष्ठान

भारतीय धर्म एवं दर्शन दोनों में कर्मसिद्धान्त को प्रमुख स्थान प्राप्त है। कर्म–गति अद्वितीय मानी गई है। कर्म पुण्य और पाप दो अर्थो में प्रयुक्त होता है क्योंकि कर्मानुसार ही मनुष्य सुख दुख के फलों को भोगता है। जीव का पुनर्जन्म ही इन कर्मों के फलों के भोग के लिए होता है। सभी प्राणी

अपने–अपने कर्मों के अनुरूप जन्म भोग रहे है। जीवन की समस्त चेष्टाएँ और प्रकृति का चक्र कर्म–गति का ही फल है। यहाँ तक कि ऋषि–मुनि, देवी–देवता सभी कर्म–गति से बन्धन में पड़ते है। प्रत्येक प्राणी को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

अतः समस्त दुःखों से निवृत्ति के लिए, वेदों में वर्णित देवों की स्तुति करना आवश्यक है। वेद–विरोधी कर्म पाप कर्म है। इनसे आदमी को अनेक कष्ट तथा दुःख प्राप्त होते है। अतः दुःख निवृत्ति के लिए, मनुष्य को यज्ञकर्मानुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि वेदों में यज्ञो को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यज्ञानुष्ठान से अशुभ कर्मों के फल का नाश होता है और दुःख निवृत्ति सम्भव होती है। अतः मानव दुःखों के विनाश तथा क्षय की प्रक्रिया में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान बतलाया गया है। संक्षेप में, देवताओं की आराधना और यज्ञानुष्ठान करना वैदिक समाज में पुण्य कर्म माने जाते थे, इसलिए कष्टकारक योनियों में जन्म धारण करने से छुटकारा पाने के लिए लोग यज्ञों के लिए प्रयास करते रहते थे।

कर्म और पुनर्जन्म

उपनिषदों में कर्म सिद्धान्त को व्यापक रूप से माना गया है। उनमें शुभा–शुभ कर्मो का भेद किया गया है और उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि अच्छे कर्म का फल अच्छा बुरे कर्म का फल बुरा होता है। सभी उपनिषद हमें सदैव सत्कर्म की प्रेरणा देते है। इसीलिए ईशावस्योपनिषद् में कहा गया है कि ''सत्कर्मों को करते हुए सौ वर्षों तक जीने की कामना करो।'' उपनिषदों में स्वार्थवश और निष्काम भाव से कर्म करने के महत्व पर विचार किया गया है। स्वार्थ प्रेरित कर्म नरक में ले जाते है, जबकि निष्काम भाव से सम्पन्न कर्म अच्छे होते है जिनसे व्यक्ति का उत्थान होता है और वे स्वर्ग–लोक में ले जाने के लिए सहायक सिद्ध होते है। इस प्रकार शुभाशुभ कर्म अपना–अपना प्रभाव डालते है।

उपर्युक्त कर्म–विचार के आधार पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित किया गया है। उपनिषदों का यह दृढ़ विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा विद्यमान रहती है। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार, ''स्वर्णकार जिस प्रकार सोने के एक टुकड़े से एक आकृति बनाने के पश्चात् दूसरी नवीन एवं सुन्दरतम आकृति बनाता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को छोड़कर नवीनतम एवं सुन्दर शरीर को धारण करती है।'' आत्मा की इस यात्रा का आधार उसके पूर्वजन्म में किए गए शुभाशुभ कर्म है। प्रत्येक जन्म के कर्म आगामी जीवन के रूप को निर्धारित करते है।

उपनिषदों में नीति विवेचन समुचित रूप में मिलता है। उनके अनुसार दो प्रमुख मार्ग हैं – एक 'प्रेयस' और दूसरा 'श्रेयस'। प्रथम इन्द्रियजनित सुख का मार्ग है, जबकि दूसरा आत्म कल्याण तथा लोक कल्याण की भावना से सम्प्रेषित होता है। यही श्रेयस मार्ग कर्तव्य का स्वरूप निर्धारित करता है। इसी से हम नैतिक आदर्शो की ओर उन्मुख होते है जो परमतत्व के साक्षात्कार का साधन है।

औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार जीवन मरण के चक्र में मुक्ति पाने के लिए मनुष्य आवागमन की प्रक्रिया से भयाक्रान्त हो, इनसे मुक्ति पाने की चेष्टा में लगा रहता है; किन्तु जो निःस्वार्थ भाव से सत्कर्म करता है, उसे जन्म और मरण की विभीषिका नहीं सताती है। ठीक इसके विपरीत, जो स्वार्थवश कर्म में प्रवृत्त होते है, उन्हें अनन्त बार इस जन्म–मृत्यु के भँवर में गोते लगाने पड़ते है। इसीलिए उपनिषदों में निष्काम कर्म की महत्ता बतलाई गई है। अपने ही शुभ कर्मों से मनुष्य स्वर्ग पाता है और अपने ही अशुभ कर्मो से अधोगामी बन जाता है। इसी कर्मसिद्धान्त के आधार पर पुनर्जन्म–सिद्धान्त का विकास माना जाता है। इस पुनर्जन्म–सिद्धान्त का पूर्वरूप शतपथ ब्राह्मण में दृष्टिगोचर होता है। इनका कथन है कि मनुष्य अपने कर्मविपाक के अनुसार ही जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के पश्चात जन्म ग्रहण करता है। यज्ञकर्त्ता तत्त्वज्ञानी अमरत्व प्राप्त करते है और तत्त्वज्ञान–शून्य अयाज्ञिक व्यक्ति नर्कगामी होते है। यह निर्विवाद है। ऐसे अयाज्ञिक एवं अतत्व–ज्ञानी व्यक्ति बार–बार जन्म और मृत्यु के जाल में गिरते है। इस तरह जन्म मरण का निरन्तर चक्र चलता ही रहता है – पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्।

जीवन–मरण की निरन्तर गतिशीलता में उपनिषदों की गहरी आस्था है। एक बार अतिभाग नामक एक जिज्ञासु ऋषि ने मुनि याज्ञवल्क्य से पूछा था – 'हे मुनिवर! मृत्यु के पश्चात् जब प्राणियों के प्राण वायु में, नेत्र सूर्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, बाल वनस्पतियों में, रक्त और वीर्य जल में चले जाते है तो फिर व्यक्ति का शेष क्या रह जाता है ? तब मुनि याज्ञवल्क्य ने उसे समझाते हुए एकान्त में ले जाकर कहा – 'ऐसी समस्याओं का समाधान कदापि नहीं हो सकता हम तो अच्छे और बुरे कर्मों का भेद भर ही कर सकते है। सत्कर्म से मनुष्य पुण्यात्मा और कुकर्म से वही परमात्मा बन जाता है। उपनिषदों की मान्यता है कि स्वर्णकार स्वर्णपत्र पर जैसे मूर्ति की रचना करता है और उसके पुराने हो जाने पर उसी सोने को गलाकर दूसरी मूर्ति

का निर्माण करता है, उसी तरह उस देह के जीर्ण हो जाने पर आत्मा इसे छोड़कर दूसरी नई देह धारण कर लेती है। पुनर्जन्म का आधार यही है।

VPM CLASSES